

सीखने के अवसर

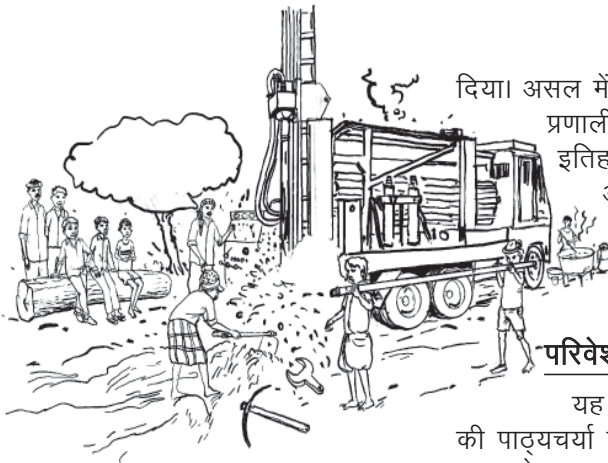
अमित और जयश्री

सुनील, प्रकाश और सुरेश अधिकतर हमारे घर के इर्द-गिर्द घूमते रहते थे। इन तीनों के परिवार आदिवासी मुक्ति संगठन से जुड़े हुए थे। *आधारशिला* के पहले साल में अधिकांश बच्चे संगठन के कार्यकर्ताओं के ही थे। तीनों में सुनील बड़ा था। सुरेश और प्रकाश लगभग एक ही उम्र के थे। सात-आठ साल के रहे होंगे तीनों। एक बार ऐसे ही बातों-बातों में हमने उनसे पूछा, “तुम सब अपनी भाषा कैसे सीख गए? क्या किसी ने तुम्हें बैठाकर सिखाया?” सुनील ने कहा, “बड़ों को सुन-सुनकर सीखी है। जब कोई काम हो रहा होता है और बच्चे वहाँ खड़े होकर देखते रहते हैं तो उस काम सम्बन्धी शब्द सीख जाते हैं। जैसे बड़े लोग बोलते हैं, वही बात बच्चे भी सीख जाते हैं।” कितनी सामान्य-सी बात थी और कितनी स्वाभाविक। सैकड़ों शिक्षाशास्त्रियों ने बच्चों को भाषा सिखाने पर पीएच.डी. कर रखी है। हम लोग शिक्षाशास्त्र नहीं जानते थे। लेकिन जब स्कूल शुरू किया तो इसके बारे में सोचना और सीखना शुरू कर दिया।

एकलव्य संस्था से हमारी पुरानी दोस्ती थी। इनकी पत्रिका हमारे पास

आती थी। उसमें प्रकाशित एक लेख से हमें पता चला कि अक्षरों को अलग से सिखाने में बच्चों के दिमाग में क्या गड़बड़ हो सकती है। मुझे याद है, उस लेख में एक मछली का चित्र था। लेख में व्याख्या की गई थी कि ‘मछली’ शब्द सिखाते वक्त यदि म छ ल अलग से और ी की मात्रा अलग से सिखाई जाए तो इस तरीके से बच्चों के दिमाग पर क्या असर पड़ेगा। हमें उस समय यह समझ में नहीं आता था कि ऐसी बातों को कितनी गम्भीरता से लिया जाए। इस लेख में मछली का चित्र जरूर आकर्षक था जिसे हमने प्रिंट करवाकर रख लिया था। खैर, इस सब ज्ञान-निर्मिती के बाद भी यह सच्चाई हमारे सामने थी कि देश के अधिकतर बच्चे प्राथमिक कक्षाओं में पढ़ना-लिखना नहीं सीख पा रहे हैं। आज भी यह स्थिति बरकरार है। हालाँकि, यह लेख इस विषय पर आधारित नहीं है।

सुनील, प्रकाश और सुरेश की बातचीत पर लौटते हैं। एक ही वाक्य में इन्होंने बता दिया कि बच्चे भाषा कैसे सीखते हैं। यह बात हमें जँच गई। जब ट्यूबवेल खुद रहा था और बच्चे वहाँ दिनभर बैठे हुए थे तब भी



दिया। असल में, इस तरह की शिक्षा प्रणाली को गढ़ने का इतिहास तो अलग ही है और राजनीति का हिस्सा भी है। उसका ज्ञान से खास लेना-देना नहीं है।

परिवेश से सीखना

वे ट्यूबवेल खुदाई सम्बन्धित शब्द सीख रहे थे, जैसे पाइप, गहरा, बिट, ड्रिल आदि। ड्रिलिंग का काम करने वाले लोगों की बातें सुन रहे थे। इसी बात को यदि आगे बढ़ाया जाए तो भाषा ही क्यों, इन्सानों ने अपनी लाखों साल की यात्रा में कुछ भी कैसे सीखा है? देखकर, सुनकर, करके। अन्य इन्सानों से, जानवरों से, पूरी प्रकृति के बहुत बारीक और सदियों तक चलने वाले अवलोकन एवं अन्वेषण से। विज्ञान के शुरुआती दौर में भी कितने ही असफल प्रयोगों के बाद बल्ब जैसी साधारण चीज़ विकसित हो पाई थी। कोई चीज़ बनाने के दौरान हुए प्रयोगों और अवलोकनों से ही तो ज्ञान-निर्मिति हुई। तो हमने अचानक ऐसा कैसा शिक्षाशास्त्र रचा जिसमें किताबें पढ़कर याद करने को हम सीखना कहने लगे? कितनी ही पीढ़ियों को हमने कुछ करने के आनन्द और सही मायने में कुछ सीखने से वंचित कर

यह विचार आधारशिला की पाठ्यचर्या की बुनियाद बन गया - अपने आसपास घटित हो रही चीज़ों को देखकर और सुनकर सीखना। इसलिए हमारा काम था, आसपास घटित हो रही चीज़ों को एक सीखने के मौके के रूप में देखना। इसी को हम 'सीखने के अवसर' कह रहे हैं। शिक्षक का काम है, ऐसे मौके पहचाने और बच्चों को उनमें शामिल करने के सार्थक तरीके खोजें।

एक अलग दृष्टिकोण से देखें तो बच्चों के सीखने-सिखाने के विषय वही होने चाहिए जो उनके आसपास मौजूद हों। अपने परिवेश और उसमें घटित होने वाली घटनाओं को जानना और समझना सबसे पहली आवश्यकता है। बच्चे भी सबसे पहले अपने आसपास की दुनिया को ही खोजते और समझते हैं।

हालाँकि, अनुभव यह भी बताते हैं कि बच्चे अमूर्त समस्याओं पर भी सार्थक ढंग से विचार कर सकते हैं, फिर भी उनके लिए अपने परिवेश

और समाज को समझना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षाशास्त्र में 'ज्ञात से अज्ञात' के सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया जाता है, लेकिन यह सिद्धान्त स्कूल के पाठ्यक्रम में कम ही दिखाई देता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि हमारा परिवेश ही हमारा पाठ्यक्रम होना चाहिए, कम-से-कम उसका एक महत्वपूर्ण हिस्सा तो अवश्य ही होना चाहिए।

नामकरण की चुनौती

आधारशिला का नाम रखते समय हमने हिन्दी में 'सीखने' का ऐसा पर्यायवाची शब्द खोजने की कोशिश की जिसे स्कूल के नाम में शामिल किया जा सके, लेकिन हमें उपयुक्त शब्द नहीं मिला। अन्ततः नाम 'आधारशिला लर्निंग सेंटर' ही रखा गया और हिन्दी में 'शिक्षण केन्द्र' लिखना पड़ा। हालाँकि 'शिक्षण' शब्द में शिक्षा देने का भाव अधिक प्रकट होता है, जबकि हमारी कल्पना में *आधारशिला* एक ऐसी जगह थी जहाँ सीखने का माहौल हो, जहाँ बच्चा किसी भी रूप में, अपनी रुचि और प्रेरणा से सीख सके। यह बात हमारे मूल विचार से भी जुड़ी है, क्योंकि सीखने की प्रक्रिया में सीखने वाले की सहमति और खुशी अत्यन्त बुनियादी एवं ज़रूरी तत्व होते हैं।

स्थानीय जीवन से उभरते विषय

अपने परिवेश को समझने और

खोजने की दृष्टि से जब हमने विषयों पर विचार करना शुरू किया, तो शुरुआत में लगा कि इसमें अलग से सोचने की क्या ज़रूरत है, जो आसपास घटित हो रहा है, उसी में बच्चों को शामिल कर लिया जाए। जैसे, जब पानी के लिए ट्यूबवेल की खुदाई हो रही हो तो उसी को समझने में लग जाएँ, या जब एकत्रित की गई फसल में चूहे लग जाएँ तो चूहों को ही अध्ययन का विषय बना लें। यह सब हमें भले ही बहुत सहज लगता था, लेकिन किसी भी शिक्षक के लिए यह तरीका व्यवहारिक रूप से कठिन था। यह काफी हद तक बेतरतीब (रैंडम) था। इसलिए इसे व्यवस्थित करना ज़रूरी था। दो वर्षों के अनुभव के आधार पर जो विषय उभरकर सामने आए, उन्हें एक क्रम में व्यवस्थित करने की कोशिश की गई। ये विषय स्थानीय परिवेश और बच्चों के जीवन से गहराई से जुड़े हुए थे।

इस क्रम में सबसे पहले 'मौसम' सामने आया, क्योंकि हम हर समय किसी-न-किसी मौसम में ही रहते हैं। गाँव में मौसम के साथ सब कुछ बदल जाता है — न केवल प्रकृति, बल्कि लोगों की दिनचर्या, कामकाज और बातचीत भी। इसलिए मौसम हमारे लिए एक महत्वपूर्ण विषय बन गया — बारिश, गर्मी और सर्दी। इनके साथ अपने आसपास के कई अन्य विषय भी स्वाभाविक रूप से जुड़ते

गए, जैसे हाट, दादा-दादी, गुवालिया (जानवर चराने वाले जो अधिकतर बच्चे होते हैं), जीप, खेत, बाबा, घर, गाँव, अकाल, कुपोषण, स्वास्थ्य, और खबरों में आने वाली घटनाएँ जैसे ईरान-इराक युद्ध। इसके अलावा संगठन की रैली, सम्मेलनों में भाग लेना, और स्कूल में आने वाले मेहमानों से संवाद जैसी गतिविधियाँ भी इसमें शामिल रहीं। चूहों और दीमक के बारे में तो आप पिछले लेखों में पढ़ ही चुके हैं।

अनुभव आधारित शिक्षण

यह उस समय की कक्षा की बातें हैं, जब हमने इन विषयों से जुड़ाव बनाने के लिए कोई ठोस ढाँचा तैयार नहीं किया था। बातचीत शुरू होती थी, फिर बीच में ही रुक जाती थी। कभी-कभी उसके बीच में गणित और भाषा की गतिविधियाँ भी आ जाती थीं।

जिस समय यह प्रक्रिया चल रही थी, उस समय सर्दी का मौसम था।

किसी भी विषय की शुरुआत करने से पहले हम बच्चों से उससे जुड़े उनके अनुभव पूछते थे। बच्चों ने बताया कि सर्दियों में त्वचा फट जाती है, ठण्ड लगती है, कम्बल-रज़ाई ओढ़कर सोते हैं, दिन छोटे हो जाते हैं आदि।

हमने कहा, “चलो, इन बातों को लिख लेते हैं। तुमने जो बताया है, उसे तो लिखना ही है, साथ ही दूसरों की बताई बातों को भी लिखो।” इस तरह सर्दी से जुड़ी सभी बातों को लिख लिया गया।

फिर हमने पूछा, “ठण्ड के मौसम में अपने आसपास और क्या-क्या होता है या बदलता है?” ‘आसपास’ का मतलब खेतों में, पेड़-पौधों में, और जीवन के अन्य पहलुओं में होने वाले बदलावों से था।

इसी बीच गणित पढ़ने का समय हो गया, तो बच्चों से कहा, “चलो, इन बातों को कल लिखकर ले आना।”

अगले दिन तो बातों का मानो ढेर लग गया। ब्लैकबोर्ड पूरी तरह भर गया। अब सवाल था कि इतनी सारी बातों को दिमाग में कैसे व्यवस्थित किया जाए, “कौन-सी बातें एकजैसी लग रही हैं?” वर्गीकरण करना



हमारी प्रिय गतिविधि थी। यह विज्ञान शिक्षण से भी जुड़ती थी।

हमने उन्हें अलग-अलग समूहों में बाँटना शुरू किया – खेत से जुड़ी बातें, चिड़िया-जानवरों से सम्बन्धित बातें, और लोगों के कामकाज से जुड़ी बातें। फिर बच्चों से कहा, “अब इन अलग-अलग विषयों पर कल लिखकर लाना। जो भी सर्दी के मौसम से जुड़ी बात समझ में आए, उसे लिखकर ले आना।” इस तरह सर्दी के मौसम पर अच्छे-खासे निबन्ध तैयार हो गए।

बच्चों के अनुभवों से हमारे मन में कई तरह के प्रश्न पैदा हुए, जिन पर हम उनसे बातचीत कर सकते थे। जैसे ठण्ड में त्वचा क्यों फटती है? वैसलीन लगाने से कुछ समय के लिए राहत क्यों मिलती है? ठण्ड का मौसम क्यों आता है और फिर क्यों चला जाता है? कम्बल ओढ़ने पर ठण्ड लगना कम क्यों हो जाता है? कुछ पक्षी सिर्फ सर्दियों में ही क्यों दिखाई देते हैं? ठण्ड में मुँह से भाप क्यों निकलती है? आदि।

इस तरह हमारे पास लगभग एक सप्ताह का काम तैयार हो गया, जिसके माध्यम से बच्चों के साथ विज्ञान और भूगोल से जुड़ी बातें की जा सकती थीं। लेकिन कई बार लगता था कि बच्चों में इन विषयों को गहराई से जानने की विशेष रुचि नहीं है। दिव्या के चेहरे से ज़रूर

कभी-कभी कुछ जानने की जिज्ञासा झलकती थी।

वैज्ञानिक सोच की यात्रा

बच्चों की ओर से स्वाभाविक उत्सुकता कम होने के बावजूद हम इन बातों का अर्थ खोजने और उन्हें समझाने का मोह नहीं छोड़ पाए। समझाने के दौरान बच्चों में कुछ रुचि भी पैदा हो जाती थी। किसी बात का कारण समझाकर हम इस बात पर विशेष जोर देते थे कि बच्चे उसे लिखें। किसी कारण को अच्छी तरह समझकर लिखने से, वह विचार मन में स्पष्ट हो जाता है। क्रमबद्ध ढंग से लिख पाना एक ऐसी कुशलता है, जो अपने आप विकसित नहीं होती। हमें लगता था कि विज्ञान की समझ के लिए यह आवश्यक है। इन्हीं प्रक्रियाओं के माध्यम से बच्चों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता था।

हम अपनी ओर से भी अवलोकन के कुछ विषय जोड़ देते थे। जैसे, सूर्य कहाँ से निकलता है? इसे अलग-अलग समूहों के बच्चे पूरे वर्ष बीच-बीच में देखते रहते थे। इसी तरह, खेतों में क्या होता है? इस मौसम में लोग क्या काम करते हैं? आदि। इस





प्रकार हर मौसम से जुड़े अनेक अवलोकन और प्रश्न सामने आ जाते थे। जैसे किसी भी विषय पर बातचीत करते समय बच्चों के अनुभवों को समझना ज़रूरी होता था, उसी तरह विषय से सम्बन्धित अवलोकन करना भी एक अनिवार्य हिस्सा था।

हर मौसम में चिड़ियों का अवलोकन करना, उसे एक चार्ट पर दर्ज करना — कहाँ देखी, कब देखी, किसने देखी। ये सब गतिविधियाँ नियमित रूप से की जाती थीं। अवलोकन विज्ञान शिक्षण की एक बुनियादी इकाई है, जिस पर हम विशेष रूप से ज़ोर देते थे।

समसामयिक विषय

छोटे बच्चों के लिए कुछ वर्षों में विषय लगभग तय हो गए थे, और प्रत्येक विषय के अन्तर्गत कराई जाने वाली गतिविधियाँ भी निर्धारित थीं। इन विषयों को शिक्षकों और बच्चों, दोनों के लिए एक स्पष्ट ढाँचे में

लाना ज़रूरी लग रहा था। लेकिन बड़े बच्चों के समूह में अक्सर उनकी चल रही चर्चाओं से ही नए विषय उभरकर सामने आ जाते थे। स्कूल में रोज़ अखबार आता था और बच्चे उसे बड़े चाव से पढ़ते थे। जब ईरान-ईराक का युद्ध चल रहा था, उस समय बच्चे रोज़ उससे जुड़ी खबरें पढ़ते थे। तरह-तरह की मिसाइलों, बन्दूकों और बमों के नाम उन्हें याद हो गए थे। अन्ततः यह प्रश्न सामने आ ही गया — आखिर युद्ध होता क्यों है?

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय खबरों का एक बड़ा लाभ यह भी था कि बच्चों को अनेक देशों, राज्यों और शहरों के नामों की जानकारी मिलती



थी, जिन्हें वे अपने एटलस में खोजते थे। आधारशिला की यह खासियत थी कि तीसरी कक्षा से ही बच्चों को एटलस दिलवाया जाता था, और वे बड़े उत्साह से नक्शे देखते थे। एटलस को समझना सीखने के लिए

भी अनेक गतिविधियाँ तैयार की गई थीं।

रुखी-सुखी का निर्माण

एक बार इस क्षेत्र के आदिवासी मुक्ति संगठन ने अकाल राहत के लिए रैली निकाली। बच्चों को भी कॉपियों के साथ रैली में भेजा गया। वहाँ उन्होंने 'अकाल' शब्द कई बार सुना। रैली का पर्वा भी कक्षा में पढ़ा गया और अखबार से भी अकाल की खबरें बच्चे अपनी कॉपियों में लिख रहे थे। तभी एक बच्चे ने कहा, "साकड़ (जिस गाँव में आधारशिला स्थित है) में तो अकाल नहीं है।" हमने पूछा, "ऐसा क्यों लग रहा है तुम्हें?" उसने जवाब दिया, "यहाँ तो खेत हरे-भरे दिख रहे हैं।" कितनी साधारण-सी बात थी, जो उसने अपनी नज़र से देखी थी। जाहिर है, जिन लोगों के खेत हरे दिख रहे थे, उनके पास ज़रूर सिंचाई के कुछ

साधन थे। इस सवाल से प्रेरणा लेते हुए हमने बच्चों से कहा, "तुम सब गाँव जाओ और पूछो कि लोगों को क्या लगता है, इस वर्ष अकाल है या नहीं।"

जब बच्चे वापस आए तो वे बहुत ही उत्साहित थे। गाँव के लोगों ने उन्हें ढेर सारी बातें बताईं। जब हमने एक-एक ग्रुप से सुनना शुरू किया, तो समझ आया कि गाँव के बुजुर्गों ने पुराने अकालों की बातें बताई थीं जो उन्होंने भी अपने बूढ़ों से सुनी होंगी। अकाल के बारे में हमारी समझ भी उतनी गहरी नहीं थी जितनी इन बच्चों द्वारा इकट्ठा की गई जानकारी से बनी। उन्हें टिड़की काल के बारे में भी पता चला, जब इतने सारे टिड़के आ धमके थे कि दिन में भी अँधेरा-सा छा जाता था। टिड़के एक तरफ से खेत साफ करने बैठते और पूरी लाइन के समस्त खेत साफ हो जाते। उन्हें किसी भी तरह से भगाना भी सम्भव नहीं था।

इसके अलावा उन्हें छपनिया अकाल के बारे में बताया गया, जिसमें बहुत सारे गाँवों के लोग मर गए थे और केवल इक्के-दुक्के लोग ही बचे थे। हालात इतने दुश्वर थे कि कुछ लोग मर चुके बच्चों



का मांस खाकर किसी तरह ज़िन्दा रहे। उस समय राहत के लिए राजा द्वारा दी गई मदद की भी चर्चा हुई।

अब समस्या आई कि इतनी सारी जानकारीयों को व्यवस्थित कैसे किया जाए। बच्चों को समूहों में बाँटा गया और प्रत्येक समूह को एक प्रश्न दिया गया। प्रत्येक समूह ने बाकी सभी समूहों से मिली उस प्रश्न-विशेष से सम्बन्धित जानकारी को अपने पास लिख लिया। इस तरह प्रश्नों के माध्यम से सारी जानकारी व्यवस्थित की गई। धीरे-धीरे यह प्रक्रिया एक किताब का रूप लेने लगी। पुराने ज़माने का पतला-सा कागज़, जिसे किसी ऑफिस वाले ने स्कूल को दिया था, उसी पर बच्चों ने लिखना शुरू कर दिया था और साथ ही, उन्होंने चित्र भी बनाए।

देखते ही देखते, बारह-तेरह साल

के एक बच्चे का मासूम-सा सवाल धीरे-धीरे एक गम्भीर सर्वेक्षण शोध में तब्दील हो गया। बच्चों की इस शोध का ज़िक्र, शिक्षाविद् अनिल सदगोपाल द्वारा एनसीईआरटी के 'वर्क इन एजुकेशन' ग्रुप की रिपोर्ट में एक उदाहरण के रूप में भी किया गया। बाद में, यह शोध *एकलव्य* द्वारा प्रकाशित किताब *रुखी-सुखी* के रूप में सामने आया।

रुखी सुखी के बनने से बच्चों को यह भी समझ आया कि दरअसल, किताब कोई भी लिख सकता है। और यह किताब तो उन्होंने अपने ही 'अनपढ़' बड़े-बुजुर्गों की बातों को लिखकर बनाई थी। इस प्रक्रिया में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सवाल भी जन्मा — किताब में जो लिखा होता है, वह लेखक को कहाँ से पता चलता है? जिसका उत्तर समझ में आया कि वह तो साधारण लोगों से ही पता चलता है। इसलिए किताब में कभी-कभी कुछ बातें किसी के हिसाब से गलत भी हो सकती हैं।

यह बहुत बड़ी बात थी। हमारी भाषा में कहें तो जहाँ एक तरफ बच्चों द्वारा ज्ञान की सृजन प्रक्रिया हो रही थी, वहीं किताब और ज्ञान के अटूट सम्बन्ध को बच्चे चुनौती दे रहे थे। 'अनपढ़=अज्ञानी' वाला समीकरण पूरी तरह ध्वस्त हो गया था और बच्चे अपने माता-पिता और



यह चित्र *रुखी-सुखी* किताब से साभार।

समाज के बुजुर्गों को एक नई इज़्ज़त से देखने लगे थे।

किसी भी ज्ञान के सन्दर्भ में, यह आदिवासी बच्चों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि सामान्य शिक्षा व्यवस्था ऐसे समाज के बच्चों को यह सिखाती है कि उनका समाज हीन है और पढ़ा-लिखा वर्ग श्रेष्ठ है। **मुक्तिदायी शिक्षा** का एक बड़ा हिस्सा यही है – अपनी और अपने समाज की वह शर्म, जो बच्चों में होती है, उसे तोड़ना और उसकी जगह अपने प्रति आत्मसम्मान जागृत करना। यह बात पाठ्यक्रम के लिहाज़ से उस वक्त बेहद ज़रूरी हो जाती है, जब हम शोषित वर्ग के बच्चों की शिक्षा पर विचार करते हैं।

इससे हम देख सकते हैं कि परिवेश को पाठ्यक्रम में शामिल करने से बच्चे अपनी जिन्दगी को बेहतर ढंग से समझ पाते हैं।

बच्चों से इस पर भी चर्चा हुई कि किताब के पहले पन्ने पर बने ‘C’ के चिह्न का क्या मतलब होता है और इस किताब का कॉपीराइट किसके पास होना चाहिए – *एकलव्य* के पास या हमारे पास, या कॉपीलेफ्ट होना चाहिए ताकि सभी इस जानकारी का उपयोग कर सकें।

इन पूरे पन्द्रह-बीस दिनों तक बच्चों और हम शिक्षकों को यह एहसास नहीं था कि वे भाषा सीख रहे हैं या यह इतिहास-भूगोल का

कोई विषय है। हम सब पूरी तरह अकाल की कहानियों में डूबे हुए थे। यह एक खोज यात्रा थी, न कि कोई प्रोजेक्ट जिसे हमें व बच्चों को पूरा करना था।

विषय आधारित शिक्षण पद्धति

शिक्षकों द्वारा कई विषयों पर फाइलें बनवाई गई थीं, जिनमें उस विषय के पाठ्यपुस्तक के पाठ एवं उनसे सम्बन्धित *चकमक* और *संदर्भ* के लेख ढूँढकर फोटोकॉपी कर एक जगह रखे गए थे। लाइब्रेरी से उस विषय की किताबों की सूची बनाकर भी रखी गई थी। इसका उद्देश्य यह था कि जब किसी विषय पर चर्चा हो तो शिक्षक को सारी सम्बन्धित जानकारी एक जगह मिल जाए। इससे यह भी फायदा हुआ कि बच्चे पाठ्यपुस्तकों के पाठ भी पढ़ते रहते थे, भले ही उस क्रम में नहीं, इसलिए उनकी यह चिन्ता भी कम हो जाती थी कि वे पाठ्यपुस्तक नहीं पढ़ रहे हैं।

नदी विषय के लिए एक्टिविटी कार्ड बनाए गए, जिन्हें एक गत्ते के डिब्बे में रखा जाता था। प्रत्येक कार्ड पर एक गतिविधि लिखी रहती थी। क्लास के समय कोई बच्चा ऑफिस से यह डिब्बा उठाकर ले आता था और बच्चे अपनी मर्जी से किसी भी गतिविधि का कार्ड निकालकर, गतिविधि करने में जुट जाते थे। इस तरह उन्हें खुद तय करने का मौका



मिलता था कि उस विषय में क्या करना है, कैसे आगे बढ़ना है। सभी बच्चे सारी गतिविधियाँ नहीं कर पाते थे, और समय सीमा तक जितना अच्छे से हो पाता था, उतना ही किया जाता था। अन्य ज़रूरी बातें शिक्षक सबको बता देते थे।

इस तरीके को प्रोजेक्ट अप्रोच भी कहा जाता है, जिसमें किसी विषय को चुनकर, उस पर विस्तृत बातचीत की जाती है। लेकिन हमने अक्सर पाया कि जैसे ही प्रोजेक्ट वर्क को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया जाता है, उसका व्यवसायीकरण हो जाता है और उसका असली मर्म खो जाता है। इसलिए जब हम यह तरीका शिक्षक प्रशिक्षण में समझाते थे, तो कहते थे कि जैसे स्कूल में विषयों को उनके दायरे के हिसाब से बाँटा जाता है, वैसा जीवन में नहीं होता। उदाहरण के लिए, पानी - भूगोल में हम बारिश के बारे में पढ़ते हैं, हिन्दी, अँग्रेज़ी या

अन्य भाषा की कक्षा में पानी पर कविता पढ़ते हैं, गणित में पानी का मापन, एवं घनत्व सीखते हैं, और केमिस्ट्री में पानी हाइड्रोजन व ऑक्सीजन से बना है, यह समझते हैं। एक ही विषय कई हिस्सों में बाँट दिया जाता है। लेकिन वैज्ञानिक या विशेषज्ञ किसी विषय पर सोचते समय उसे

समग्र रूप से देखते हैं। बारिश के मौसम के अनुभव से ही बारिश की कविता भी जन्म लेती है। असल में, इस पद्धति की खासियत यही है कि किसी भी विषय के सभी पहलुओं को समग्र रूप से देखा जाता है।

बहुत बार ऐसे विषय या बातें दस-पन्द्रह दिन तक चलती रहती थीं, और बच्चे उनसे सम्बन्धित अलग-अलग काम करते रहते थे। लेकिन कुछ समय बाद हमें यह महसूस हुआ कि इस तरीके के लिए हर 40-45 मिनट में किसी अलग विषय को पढ़ाने वाला टाइमटेबल उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इससे बच्चों के सोचने का क्रम टूट जाता है।

मेहमानों से बातचीत

ऐसे कई अवसर आते थे, जब कक्षा में किसी भी विषय पर स्वाभाविक रूप से चर्चा या गतिविधि शुरू हो जाती थी। उदाहरण के लिए,

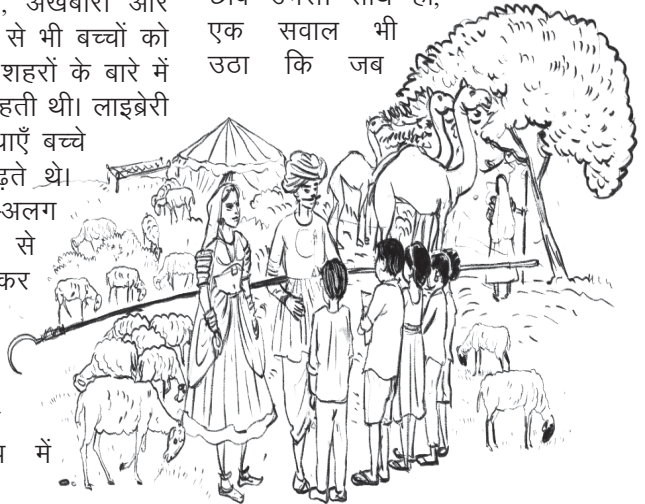
जब बाहर से स्कूल देखने के लिए मेहमान आते थे, तो वे अक्सर अलग-अलग राज्यों से होते थे। उन्हें विभिन्न कक्षाओं में जाकर अपने राज्य के बारे में बताने के लिए आमंत्रित किया जाता था। इस दौरान बच्चे नक्शे में उनके राज्य को खोजते थे और बातचीत प्रायः साक्षात्कार के रूप में होती थी, जिसमें बच्चे प्रश्न पूछते और मेहमान उनके उत्तर देते थे।

इस प्रक्रिया के अन्त में, बच्चे उनकी भाषा में अपना नाम लिखना और उस भाषा का एक गीत सीखते थे। इसी का परिणाम था कि एक वार्षिक उत्सव में बच्चों ने पाँच-छह भाषाओं में गीत प्रस्तुत किए, जिनमें आँध्र की कुई भाषा के साथ-साथ उड़िया और मराठी के गीत भी शामिल थे।

इसके अतिरिक्त, अखबारों और लाइब्रेरी के माध्यम से भी बच्चों को विभिन्न राज्यों और शहरों के बारे में जानकारी मिलती रहती थी। लाइब्रेरी में उपलब्ध लोककथाएँ बच्चे बड़े उत्साह से पढ़ते थे। इस तरह, अलग-अलग राज्यों के लोगों से प्रत्यक्ष रूप से मिलकर बच्चों को उन सन्दर्भों का ठोस अनुभव मिलता था, जिन्हें वे पहले केवल अमूर्त रूप में जानते थे।

हमारे इलाके में साल में एक बार राजस्थान से भेड़ पालक समुदाय के लोग हज़ारों जानवरों के साथ चारे की तलाश में आते थे। कई बार वे हमारे खेत के आसपास ही डेरा डालते थे। उस समय पूरा स्कूल अपना काम छोड़कर, उन्हें देखने दौड़ पड़ता था। एक बार हमने बच्चों को उनसे जानकारी लेने के लिए कॉपियाँ देकर भेजा। बच्चे बड़े उत्साह से गए, लेकिन भेड़ पालक ने यह समझकर कि बच्चे क्लास छोड़कर आए हैं, उन्हें डाँटकर वापस भेज दिया और कहा, “जाओ, पढ़ो। कैसा स्कूल है जो बच्चों का समय बर्बाद कर रहा है।” उनके अनुसार वे बच्चों का भला ही सोच रहे थे।

फिर भी, उनके माध्यम से बच्चों के मन में राजस्थान की एक ठोस छवि उभरी। साथ ही, एक सवाल भी उठा कि जब



राजस्थान में चारा कम है, तो वहाँ इतनी सारी भेड़ कैसे पलती हैं और लोग उन्हें क्यों पालते हैं? यह बहुत जायज़ सवाल था, जो हमारे मन में भी पहले कभी नहीं आया था और न ही पाठ्यपुस्तकों में इसका उल्लेख था। बाद में पता चला कि इसके पीछे एक महत्वपूर्ण कारण है — राजस्थान में कम वर्षा और सूखी ज़मीन के कारण भेड़ों को खुर की वह घातक बीमारी नहीं होती, जो कीचड़ वाले इलाकों में आम तौर पर पाई जाती है।

खेल-खेल में उभरता समग्र शिक्षण

एक बार एक नया लड़का इधर-उधर से लकड़ियाँ इकट्ठी करके स्कूल के बीचों-बीच एक झोंपड़ी बनाने लगा। बच्चों को इस तरह की रचनात्मक गतिविधियाँ करते देख

हम हमेशा बहुत उत्साहित हो जाते थे। लेकिन वह नया था, किसी ने उसे डरा दिया। जब मैं उसकी झोंपड़ी देखने के लिए उसके पास जा रहा था, तो वह वहाँ से भाग गया। सज़ा के डर से वह बहुत देर तक बुलाने पर भी वापस नहीं आया। बच्चों के बहुत समझाने पर जब वह सामने आया, तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ कि इस काम के लिए उसे शाबाशी मिल रही है। उसे झोंपड़ी बनाते रहने के लिए कहा गया, बस जगह बदलने की सलाह दी गई। फिर क्या था, जैसे ही यह बात पूरे स्कूल में फैली, कई और बच्चे भी झोंपड़ियाँ बनाने में लग गए। देखते ही देखते, बच्चों की चार-पाँच टोलियाँ बन गईं और सभी इस काम में जुट गए। वे सुबह से ही पूरे उत्साह के साथ इसमें मग्न हो जाते थे।



हमने शिक्षकों से भी कहा कि बच्चों को बिना रोकटोक यह करने दें, देखते हैं आगे क्या होता है। धीरे-धीरे यह एक पूरे गाँव के बसने जैसी कहानी बन गई। कभी ईर्ष्या में कोई किसी की झोंपड़ी तोड़ देता, तो कभी झगड़े होते। फिर उन झगड़ों को सुलझाने के लिए पंचायत, पड़ोसी और आपसी मदद जैसे कई सामाजिक पहलू सामने आने लगे। आठवीं कक्षा के बच्चों ने तो लगभग 6 फीट x 8 फीट की एक ऊँची झोंपड़ी बना दी, जिसमें बैठकर वे पढ़ाई भी करते थे।

एक दिन हमने देखा कि बच्चे अपनी झोंपड़ियों में मौजूद नहीं थे, बल्कि हॉल में बैठे हुए थे। पता चला कि एक कर्मठ शिक्षक ने सभी बच्चों को वहाँ भेज दिया था। उन्हें लगा कि यह सब क्या मज़ाक चल रहा है — एक सप्ताह हो गया इस बेहूदी गतिविधि को, और पढ़ाई का काम कब होगा!

इसके बाद शिक्षकों के साथ एक बैठक की गई, जिसमें उन्हें समझाया गया कि बच्चों का अपनी इच्छा से किसी कार्य में तल्लीन होना, एक अत्यन्त सकारात्मक पहलू है। क्यों न उन्हें वहीं, झोंपड़ियों में रहकर पढ़ने दिया जाए? जो काम वर्कशीट्स के माध्यम से हो रहा था, उसे वे झोंपड़ियों में भी कर सकते हैं।

यह विचार बच्चों को भी पसन्द आया और उन्होंने शिक्षकों के लिए भी एक झोंपड़ी बना दी। अब रोज़

सुबह शिक्षक वहीं जाकर बच्चों को गणित की वर्कशीट देते, और बच्चे वहीं बैठकर उसे पूरा कर जाँच करवाते थे। अँग्रेज़ी की हमारी 'आपी-आपी' वाली पुस्तकों से भी बच्चे स्वाध्याय करते रहते थे। इसके अलावा, झोंपड़ियों से जुड़े कई रोचक प्रश्न भी तैयार किए गए, जैसे — किन पेड़ों की लकड़ियाँ घर बनाने में उपयोग होती हैं, गाँव किसने बसाए होंगे, घर की लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई कैसे मापी जाए, क्षेत्रफल कैसे निकाला जाए आदि।

जिज्ञासा से शोध तक

एक दिन अखबार पढ़ते हुए एक खबर सामने आई कि मध्य प्रदेश के लगभग 55 प्रतिशत बच्चे कुपोषित हैं। जब बच्चों को कुपोषण का अर्थ समझाया गया, तो कुछ को यह खबर गलत लगी। वे इस शब्द से परिचित थे, क्योंकि पाँचवीं कक्षा में 'हीनता जनित रोग' नामक पाठ को हमने विस्तार से पढ़ाया था। इसके अलावा, यहाँ एक संस्था के सहयोग से 'स्वास्थ्य साथी' कार्यक्रम भी चलता था, जिसमें बच्चों को सामान्य बीमारियों और उनके उपचार की जानकारी दी जाती थी।

बच्चों का मानना था कि भूख और पर्याप्त भोजन न मिलना गरीबी से जुड़े हैं, जबकि उनके आसपास के क्षेत्र में लोगों के पास मोटरसाइकिलें, ट्रैक्टर और ट्यूबवेल जैसी सुविधाएँ

उपलब्ध थीं, इसलिए उन्हें कोई खास गरीबी दिखाई नहीं देती थी। बच्चों ने स्वयं भूख का अनुभव भी नहीं किया था, इसलिए उनके लिए यह तथ्य स्वीकार करना कठिन था।

उसी समय हमारे साथ एक आयुर्वेदिक डॉक्टर भी काम कर रहे थे। बच्चों की शंका को देखते हुए यह तय किया गया कि क्यों न इसकी सच्चाई का पता लगाया जाए। डॉक्टर साहब ने कक्षा को समझाया कि कुपोषण क्या होता है और इसकी पहचान कैसे की जाती है। आसपास की आंगनवाड़ियों से वजन मापने की मशीनें मँगाई गईं और बच्चों की टोलियाँ बनाकर पास के गाँवों में जाँच करने का कार्यक्रम तैयार किया गया। तीन गाँवों के लगभग 250 से

300 बच्चों के वजन और अन्य लक्षणों की जाँच करने पर पता चला कि वास्तव में कुपोषण की स्थिति लगभग वैसी ही थी, जैसी खबर में बताई गई थी। यह जानकर बच्चों को बहुत आश्चर्य हुआ।

इसके बाद यह चर्चा आगे बढ़ी कि जो इलाका ऊपर से समृद्ध दिखाई देता है, वहाँ कुपोषण क्यों है। इस प्रश्न के उत्तर खोजने के लिए शिक्षकों और बच्चों के साथ मिलकर कई सवाल तैयार किए गए, जैसे घर में रोज़ क्या खाया जाता है, क्या दाल उपलब्ध है, भोजन की विविधता कैसी है आदि।

बच्चों ने टोलियाँ बनाकर आसपास के गाँवों का दौरा किया और छुट्टियों में अपने घर जाकर भी इन सवालों



के जवाब जुटाए। एक सर्वे फॉर्म तैयार किया गया, जिसके माध्यम से घर-घर जाकर जानकारी एकत्र की गई, जैसे परिवार में सदस्यों की संख्या, भोजन की उपलब्धता, उगाई जाने वाली फसलें आदि। इसके साथ ही बच्चों ने कई बुजुर्गों से बातचीत कर पुराने समय की खानपान की आदतों और जीवनशैली के बारे में भी जाना।

इस पूरी प्रक्रिया में बहुत सारी महत्वपूर्ण जानकारीयाँ सामने आईं, जिन पर कक्षा में लगातार चर्चा होती रही। अन्ततः बच्चों को समझ आया कि कुपोषण के कई कारण हैं। प्रमुख रूप से, बाज़ार पर बढ़ती निर्भरता के कारण खेती में नगदी फसलों का चलन बढ़ा है, और खेतों व जंगलों में जैव विविधता कम हो गई है। इसका सीधा असर भोजन की मात्रा और विविधता, दोनों पर पड़ा है। जहाँ पहले लोग लगभग 135 प्रकार के खाद्य पदार्थों का सेवन करते थे, वहीं अब यह संख्या घटकर केवल 25-30 रह गई है। साथ ही, जंगल, नदी और गैर-फसली स्रोतों से मिलने वाले भोजन का हिस्सा भी बहुत कम हो गया है, जिससे खेतों पर निर्भरता बढ़ गई है। खुशी की बात यह रही कि बच्चों द्वारा किए गए इस अध्ययन के निष्कर्ष अन्तरराष्ट्रीय खाद्य और कृषि संस्थानों के शोध से भी मेल खा रहे थे।

बच्चों द्वारा किए गए इस शोध को

राष्ट्रीय बाल विज्ञान काँग्रेस में डॉ. अब्दुल कलाम द्वारा प्रथम पुरस्कार दिया गया। चयन समिति ने प्रश्न उठाया कि “डॉ. कलाम बायोडीज़ल उत्पादन के लिए तेलीय फसलों की खेती की बात करते हैं, जबकि आप नकदी फसलों का विरोध कर रहे हैं।” बच्चों का उत्तर सुनकर समिति के वरिष्ठ सदस्य भी आश्चर्यचकित रह गए, “खेती हम करते हैं और हमारे बच्चे भूखे हैं, लेकिन डॉ. कलाम को इस वास्तविकता का पता नहीं है। हमारी शोध से यह बात सामने आई है।” समिति ने कभी नहीं सोचा था कि डॉ. कलाम जैसे महान व्यक्ति के विचारों का इस तरह तर्कसंगत विरोध किया जा सकता है।

यह थी किसी विषय को समझने और गहराई से सीखने की वास्तविक प्रक्रिया।

घूमते-फिरते सीखना

घूमने-फिरने के दौरान कई बार सीखने और संवाद के अनेकों सुन्दर और मजेदार अवसर मिलते हैं। बातचीत, सीखने-सिखाने का एक बेहतरीन तरीका है। रविवार को बच्चों के साथ सुबह-सुबह टहलने जाने पर अक्सर कई रोचक बातें सामने आती थीं। बच्चे उत्साह से कहते, “सर, आज चाँद और सूरज एकसाथ दिख रहे हैं।”, “देखो-देखो, वह तोता है।” इस पर चर्चा होती कि तोते कई प्रकार के होते हैं। कोई कहता, “मुझे

तो केवल एक ही तरह का तोता पता था।” तब सबको कुछ नया सीखने को मिलता।

रास्ते में बच्चों ने पाट (नहर) देखकर कहा, “पहले जब बिजली और मोटरें नहीं थीं, तब लोगों ने खेतों में पानी लाने का कितना अच्छा तरीका निकाला था। अब पाट से पानी क्यों नहीं दिया जाता?” इसी तरह, नदी किनारे शमशान स्थल देखकर बच्चों के मन में प्रश्न उठे, “सबसे पहले यहाँ किसने जलाया होगा? बाद में गाँव की यह जगह जलाने के लिए कैसे उपयोग होने लगी?” फिर चर्चा के दौरान हमने बताया कि कुछ लोग शवों को जलाते नहीं, बल्कि दफनाते हैं। एक बच्चे ने कहा, “हमारे यहाँ छोटे बच्चों को जलाते नहीं, गाड़ देते हैं और ऊपर पत्थर रख देते हैं, ताकि जानवर उन्हें नुकसान न पहुँचाएँ।”

ऐसी सैकड़ों बातें बातचीत में निकलती थीं। एक बार सैर के दौरान बच्चों को चमकीले पत्थर मिले। वे तरह-तरह के पत्थर ले आए। स्कूल पहुँचते ही हमने लाइब्रेरी से एक *एनसाइक्लोपीडिया* निकाला और चित्रों के आधार पर पत्थरों को पहचानने की कोशिश की। उसी समय कुछ बच्चों की खाना बनाने की बारी थी, लेकिन वे पत्थरों में इतने मग्न हो गए कि न जाने का बहाना मिल गया। बाद में उन्हें डाँट भी पड़ी।

साल में एक बार कहीं दूर घूमने जाने का कार्यक्रम अवश्य होता था। यह आसपास की पैदल यात्राओं से अलग होता था। छोटे बच्चों को पास के गाँवों के तालाबों और नर्सरी में ले जाया जाता था, जहाँ वे साथ बैठकर खेलते-कूदते खाना खाते और बहुत खुश होकर लौटते थे। उनके लिए जीप में बैठना ही अपने आप में एक रोमांचक अनुभव होता था।

थोड़े बड़े बच्चों को बड़वानी ज़िले के दर्शनीय स्थलों के साथ-साथ ज़िला कार्यालय, पुलिस कार्यालय आदि दिखाने ले जाते थे। इनमें स्वतंत्रता सेनानी भीमा नायक का बंगला और कचहरी उनके लिए विशेष रूप से रोचक स्थान होते थे। इसके साथ ही, वे कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं के कार्यों को भी समझते थे। यात्रा के अन्त में सभी नर्मदा नदी में मस्ती करते हुए लौटते थे।

बड़े समूह के बच्चों को डांडी में समुद्र दिखाने ले जाया जाता था। वहाँ वे वेड़छी के ‘सम्पूर्ण क्रान्ति विद्यालय’ में रुकते थे, जहाँ उन्हें सामाजिक और शैक्षिक गतिविधियों के बारे में जानने का अवसर मिलता था। वहाँ वे अणु-मुक्ति जैसे विषयों पर जानकारी प्राप्त करते, सुबह नायारण भाई देसाई से गाँधी-कथा सुनते, आसपास के आदिवासी गाँवों का भ्रमण करते, और सूरत में बन्दरगाह तथा सुमुल डेयरी जैसी जगहें भी देखते थे।



समुदाय की सहभागिता

बच्चे हर साल बुजुर्गों को बुलाकर या उनके पास जाकर खेती, पशुपालन, जंगल, जड़ी-बूटियों, स्वतंत्रता आन्दोलन, लोककथाओं और गाँव के इतिहास के बारे में जानकारी जुटाते थे। फिर इस जानकारी और लोककथाओं के आधार पर किताब बनाना भी एक महत्वपूर्ण गतिविधि होती थी।

एक बार स्कूल का हँडपम्प खराब हो गया। कई बार आवेदन करने के बावजूद जब कोई कार्यवाही नहीं हुई, तो जयश्री सभी बच्चों को पीएचसी कार्यालय ले गईं। परिणाम यह हुआ कि अगले ही दिन पाइप और अन्य सामग्री पहुँच गई। इस तरह बच्चों ने समस्या समाधान की प्रक्रिया को भी जाना और समझा।

अपने आसपास के पहाड़, नदी, गाँव या स्कूल की ज़मीन का इतिहास खोजना — ऐसे अनेक कार्य हुए, जो रोज़मर्रा के अनुभवों से शुरू होकर

एक सशक्त शैक्षणिक प्रक्रिया का रूप ले लेते थे। शुरुआती वर्षों में हम बच्चों को पाँचवीं और आठवीं की प्राइवेट परीक्षा दिलवाते थे, लेकिन बाकी की कक्षाओं में बच्चों पर केवल पाठ्यपुस्तकों तक सीमित रहने की मजबूरी नहीं थी; सीखने के लिए हमारे पास पर्याप्त समय और स्वतंत्रता थी।

बहुत-से उदाहरण हो चुके।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि हमारे आसपास सीखने के हज़ारों विषय मौजूद हैं, रोज़मर्रा वाली प्रत्येक घटना में सीखने के अवसर छिपे होते हैं। इन्हें पहचानना, पकड़ना और आगे बढ़ाना शिक्षक तथा शिक्षण संस्थानों की ज़िम्मेदारी है। यह आदत हमें पूरी ज़िन्दगी के लिए एक जिज्ञासु विद्यार्थी बना सकती है।

कुछ लोग यह मान सकते हैं कि जहाँ कोई रहता है, उस जगह के

बारे में वह स्वयं ही सब जान जाता है, लेकिन यह बिलकुल सही नहीं है। अक्सर ऐसा पाया जाता है कि एक ही स्थान पर पूरी ज़िन्दगी बिताने के बावजूद लोगों को वहाँ का इतिहास और अनेक महत्वपूर्ण बातें पता नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, हम बारिश का आनन्द तो लेते हैं, लेकिन यह जानने की कोशिश नहीं करते कि वह अरब सागर से आई है या बंगाल की खाड़ी से।

अनुभव तो हमें रोज़ होते हैं, लेकिन उन्हें समझने की बौद्धिक प्रक्रिया तभी विकसित होती है जब हम उन पर सचेत रूप से मनन करते हैं। अनुभव का महत्व इस बात में है कि उसमें भावनाएँ भी जुड़ी होती हैं, जो किसी भी घटना को गहराई और जीवन्तता प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए, बारिश से मिलने वाले आनन्द को केवल उसके रासायनिक सूत्र से समझकर महसूस नहीं किया जा सकता। इसलिए सीखने में अनुभवों का आधार अत्यन्त आवश्यक है।

हालाँकि, हम विभिन्न परिस्थितियों का अनुभव करते हैं, लेकिन उनके साथ सचेत रूप से जुड़ना, मात्र यँ ही उनसे गुज़र जाने से बिलकुल भिन्न होता है। सचेत जुड़ाव में मस्तिष्क की सक्रियता अधिक होती है, फिर भी हमने हमेशा भावनात्मक और प्रत्यक्ष अनुभव को समान रूप से महत्वपूर्ण माना है।

लेकिन स्कूल के वातावरण में इनका प्रायः कोई स्थान नहीं होता। ऐसे में इन अनुभवों को जीवित बनाए रखना और साथ ही उन पर निरन्तर विचार करते रहना, एक गम्भीर चुनौती है।

साथ ही, इस पद्धति को शिक्षकों तक पहुँचाना, उन्हें इस बारे में समझाना, इस तरीके के अनुरूप मॉड्यूल, प्रश्नों के सेट और शिक्षण-सामग्री तैयार करना भी एक चुनौती है। ऐसी कुछ सामग्री दो दशकों के सतत व सघन काम के दौरान *आधारशिला* में विकसित की गई है, जिसे संकलित और व्यवस्थित करना अत्यन्त आवश्यक है।

अमित और जयश्री: लगभग तीन दशकों से पश्चिम मध्य प्रदेश में भील, भीलाला और बारैला आदिवासियों के बीच में रह रहे हैं। साथ ही, खेडुत मज़दूर चेतना संगठ, नर्मदा बचाओ आन्दोलन व पश्चिम भारत प्रवासी मज़दूर संघ के साथ-साथ आदिवासियों के अन्य संघर्षों के साथ भी खड़े हैं। 1998 से आदिवासी बच्चों व युवाओं की शिक्षा के लिए काम कर रहे हैं।

सभी चित्र: नीलेश गेहलोत: धार के फाइन आर्ट कॉलेज से मास्टर ऑफ फाइन आर्ट की उपाधि प्राप्त तथा रियाज़ एकेडमी ऑफ़ इलस्ट्रेशन, *एकलव्य* से डिप्लोमा। बचपन से ही चित्र बनाना बेहद पसन्द रहा है, और इसी रुचि ने इन्हें कला के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया।